IJAER/ June-July 2012 /Volume-1/Issue-1/Article No-25/146-156 ISSN: 2278-9677

International Journal of Arts & Education Research

# रीतिकालीन कवि मानसिंह 'द्विजदेव' का भाषा संघटन

**Dr.Mangala**
Assistant Professor
Global Institute of Education
Narayanpur, Rampur

यों तो ब्रजभाषा–काल में ब्रजभाषा के उत्कृष्ट आर प्रतिमित स्वरूप को उपस्थित करने वाले कवियों की संख्या अधिक है। किन्तु ब्रज की धूल में लोटपोट कर खड़े होने वाले ब्रजभाषा भाषी, ब्रजवासी कवियों में से ऐसे कवि खोजने पर ही मिलेंगे, जिनका भाषा पर पूर्ण अधिकार रहा हो तथा जिन्होंने भाषा का उत्कृष्ट और प्रतिमित रूप ही प्रस्तुत किया हो, क्योंकि अपने निजी क्षेत्र की भाषा को काव्यमयी बनाने म सरलता तो होती है किन्तु उसका सम्यक्रूपेण प्रयुक्त करना कठिन कार्य है। ऐसी स्थिति में यदि कोई ठेठ अवधी भाषाभाषी प्रान्त का निवासी होकर भी आदर्श ब्रजभाषा का प्रयोग करे, तो यह उसके लिए बड़े गौरव की बात है। इस दृष्टि से निश्चय ही हमारा कवि मानसिंह द्विजदेव यशस्वी है।
ब्रजभाषा का विकास हमारी प्राचीन साहित्यिक भाषाओं की परम्परा से हुआ है। फलतः उसमें संस्कृत, अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) प्रभृति भाषाओं से प्राप्त कुछ ऐसी भाषागत विशेषताएँ हैं जो इसके सभी सफल कवियों में देखी जा सकती है।

महाराजा मानसिह 'द्विजदेव' की काव्यभाषा परिष्कृत व परिमार्जित ब्रजभाषा ही हैं उन्होंने एक ओर संस्कृत, अरबी, फारसी आदि से उपयुक्त शब्दों का चयन किया है, वही बोलचाल के क्रियापदों का भी व्यापक उपयोग किया है। यहाँ उनके भाषासंघटन पर तनिक विस्तार से विचार किया जा रहा ह।

## (क) शब्द योजना

'द्विजदेव' ने काव्यभाषा के लिए तत्सम और तद्भव शब्दों का ही अधिक चयन किया ह, लेकिन उन्होंने अरबी–फारसी और बोलचाल के शब्दों को भी अछूता नहीं माना ह। यहाँ उनके शब्दचयन पर संक्षेप में विचार किया गया है–

### 1–तत्समः

'तत्सम' शब्द तत् सम के योग से बना है, जिसका अर्थ है तत्=वह और सम= समान। शब्द जिस रूप में संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होता है, यदि उसी में बिना किसी परिवर्तन के या विकार के, हिन्दी में भी ज्यों का त्यों प्रयोग में आता है तो, वह तत्सम कहलाता है। यहाँ तत् का अर्थ संस्कृत भाषा है। उनकी भाषा में प्रयुक्त संस्कृत के अनेक पदजात ये हैं– ऋतु, ऋतुनायक, ऋतुराज, अंजली, अंबुज, उपकार, कुंज, कंज, कन्दुक, कानन, कुमुद, कुरंग, कूल, कोकिल, कपोल, कलधौत, करहाट, क्रम, खंजन, गज, घनसार, घन, चंदन, चित्र, चित्त, जल, जाल, ज्वाल, तड़ित, ताप, दृढ़, दीन, द्विज, देव, द्विजराज, निदाघ, पंक, पावक, पुंज, प्रसून, प्रेम, प्रभा, पयोनिधि, बल, बुद्धि, भूमि, भम, भू, भेद, भोग, मन, मधुकर, मोहक, मौन, रंक, रस, रूचि, रोचक, रसाल, रजनी, रज रंज, ललित, लवंग, लता, लतिका, ललाट लीला, श्रीफल, संभ्रम, समीर, सुरभि, सुषमा, सुधा, सुधाकर, तथा सौरभ इत्यादि।

इन संस्कृत के शब्दों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि इनमें अप्रचलित शब्द तो शायद ही कोई हो। अधिक से अधिक 'करहाट' शब्द को हम अप्रचलित कह सकते हैं। अन्यथा अन्य सभी प्रयुक्त शब्द ऐसे हैं कि उनके स्थान पर अन्य प्रचलित और व्यापक शब्द पाना कठिन है। इन शब्दों के प्रयोग में कवि ने पंडिताई दिखाने का प्रयास नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द अपने आप आकर अपने उचित स्थान पर बैठ गए हैं, उन्हें हटाने से वाक्य की सारी सुषमा ही नष्ट हो जाएगी।

### 2–अर्धतत्सम :

'अधतत्सम' शब्द नया है क्योंकि परम्परा में तत्सम और तद्भव को ही मान्यता मिली है। डॉ. रामानन्द शर्मा के शब्दों में– ''अर्धतत्सम से तात्पर्य उन शब्दों से है जो मूलरूप से तत्सम ही है, लेकिन उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया गया है। उदाहरणार्थ– ब्रजभाषा में 'श', 'ष' और 'ण' का अभाव है, 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' हो जाता है तथा 'ण' के स्थान पर 'न'। कहीं–कहीं 'ष' का 'स' भी हो जाता है। 'ब' का 'व' आर 'य' का 'ज' हो जाता है।

स्वरविहीन 'र' और 'ल' स्वरयुक्त हो जाते हैं। इन परिवर्तनों से शब्द के मूलस्वरूप में अन्तर नही आता, लेकिन उन्हें तत्सम भी नहीं कहा जा सकता।''[1]

'द्विजदेव' के काव्य में इस प्रकार के शब्द व्यापक रूप में मिलते हैं। यहाँ इनको संक्षेप में दिया जा रहा है–

**श का स** : सिखर (शिखर), दरसन, (दर्शन), कोस (कोश), सीतल (शीतल), सीस (शीश), ससि (शशि), सुयस (सुयश), सिसिर (शिशिर), असीस (आशीष), सीत (शीत), सोभा (शोभा), स्यामा–स्यामा (श्याम–श्याम), प्रकास (प्रकाश), केस (केश), गिरीस (गिरीश), बिदेस (विदेश)।

**ष का स** : असीस (आशीष), बरसा (वर्षा), बरस (वर्ष), रिसि (ऋषि), दोस (दोष)।

**ष का ख** : भूखन (भूषण), मेख (मेष)।

**ण का न** : किरन (किरण), रन (रण), रमन (रमण), चरन (चरण), पयान (प्रयाण), बेनी (वेणी), तरून (तरूण), तरूनी (तरणी), गुन (गुण), अरून (अरूण), अरूनोदय (अरूणोदय), परबीन (प्रवीण), प्रान (प्राण), बारन (वारण), बरन (वरण), आभूषन (आभूषण), तृन (तृण), चिंतामनि (चिंतामणि), मनिमय (मणिमय)।

**य का ज** : जोबन (यौवन), जाचक (याचक), जस (यश), संजोग (संयोग), पर्जक (पर्यक), जोग (योग), जुगति (युक्ति), जुबापन (युवापन), जुबती (युवती), जसुधा (यशोदा)।

**व का ब** : परबीन (प्रवीण), बनिता (वनिता), बरस (वर्ष), बरसा (वर्षा), जोबन (यौवन), बेनी (वेणी), बन (वन), विचित्र (विचित्र), बाटिका (वाटिका), बरन (वरन), छबि (छवि), सुबास (सुवास), बसन्त (वसन्त), बिदेस (विदेश), बाहन (वाहन), बिकल (विकल), जुबापन (युवापन), जुबाब (जवाब), युबती (युवती)।

**क्ष का छ या च्छ** : अछत (अक्षत), लच्छन (लक्षण)।

**हलन्त का अभाव** : लगन (लग्न), बरन (वर्ण), बरस (वर्ष), दरसन (दर्शन), परब (पर्व), दीरघ (दीर्घ)।

ऐसे शब्दों की सूची बहुत लम्बी बनायी जा सकती है, लेकिन ऐसा करना हमारा उद्देश्य नही है। हमारा उद्देश्य तो यह बताना है कि 'द्विजदेव' के काव्य में ऐसे शब्दों की मात्रा बहुत अधिक है।

वास्तव में रीतिकालीन काव्यभाषा में जो भी शब्द अन्य भाषाओं से लिए हैं, उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया है और संस्कृत के तत्सम शब्दों का ब्रजभाषा के अनुरूप ढलना ही अर्धतत्समीकरण कहलाता है।

**तद्भवः**

तद्भव शब्द तत् भव के योग से बना है, जिसका अर्थ है संस्कृत शब्दों से उत्पन्न। 'तद्भव वे शब्द हैं जो संस्कृत रूपों से बिगड़कर बने हैं और आज हिन्दी की अपनी निधि माने जाते है। उदाहरणार्थ संस्कृत शब्द 'मदन' (काम) प्राकृत में दों स्वरों के मध्यवर्ती दकार को खोकर 'मअन' हो जाता है और फिर ब्रजभाषा में 'मैन' हो जाता ह। यही स्थिति बैन (वचन=बअन=बैन) की भी है। बिहारी ने भी 'बिधु=बैनी बधू का बार–बार उल्लेख किया है और गोस्वामी तुलसीदास भी इस शब्द का उपयोग करते हैं– 'संग लिये बिधुबैनी वधु रवि को जेहि रंचक रूप दियें है।' इस प्रकार संस्कृत मूल से विकसित होकर उनसे स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने वाले शब्द तद्भव है। 'नालन्दा विशाल शब्दसागर' में तद्भव के विषय में कहा गया है– 'हिन्दी शब्दसमूह में सबसे अधिक संख्या उन शब्दो की है जो प्राचीन आर्यभाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होते हुए चले आ रहे हैं। व्याकरणों की परिभाषा में ऐसे शब्दों को 'तद्भव' कहते हैं, क्योंकि ये संस्कृत से उत्पन्न माने जाते थे। इनमें से अधिकतर का सम्बन्ध संस्कृत से जोड़ा जा सकता है, किन्तु जिन शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत से नहीं जुड़ता, उनमें ऐसे शब्द हो सकते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऐसे शब्दों से हुई हो, जिनका व्यवहार प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के साहित्यिक रूप संस्कृत से न होता हो। इसलिए तद्भव शब्द का संस्कृत शब्द से ही सम्बन्ध निकल आना आवश्यक नहीं है। इस कोटि के शब्द प्रायः मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में होकर हिन्दी में आये है, इसलिए इनमें से अधिकतर के रूपों में बहुत परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। सर्वसाधारण की बोली में तद्भव शब्द अत्यधिक मात्रा में मिलते ह। वस्तुतः ये ही असली हिन्दी शब्द है तथा इनके प्रति हमारी विशेष ममता होनी चाहिए। 'कृष्ण' की अपेक्षा 'कन्हैया' 'कान्हा' शब्द हिन्दी का अधिक सच्चा शब्द है।'' वास्तविकता यही है कि हिन्दी की

सच्ची और निजी निधि से तद्भव शब्द ही है। इनसे काव्यभाषा में माधुर्य आर लय उत्पन्न होती है और किसी भी हिन्दी कवि का काम इनके बिना नहीं चल सकता।
'द्विजदेव' के काव्य में तद्भव शब्दों की मात्रा बहुत विशाल ह। इनके काव्य में प्रयुक्त बहुत से तद्भव शब्द नीचे दिये गये हैं–

दीहे (दीर्घ), लोयन (लोचन), लाह (लाभ), पौन (पावन), नाह (नाथ), गय (गज), लोकय (लोक), मीत (मित्र), कान्ह (कृष्ण), साँझ (सन्ध्या), आज (अद्य), नाच (नृत्य), सौति (सपत्नी), उबति (उदवर्त्य), मीचु (मृत्यु), बूढ़ा (वृद्ध), परोसिन (प्रतिवेशिन), मोती (मौक्तिक), चोखी (चौक्ष), पयान (प्रमाण), सावन (श्रावण), घी (घृत), हिय (हृदय), आसू (अश्रु), आँखिन (अक्षु), अपूरब (अपूर्व) इत्यादि।

इस प्रकार के तद्भव शब्दों का प्रयोग भी हमारे कवि ने बड़े ही विवेक के साथ किया है। उसने परम्परानिर्वाह के लिए प्राकृत के नियमानुसार शब्दों का केवल तद्भव रूप गढ़ कर नहीं रख दिया है, प्रत्युत उसने ऐसे तद्भव शब्दों को ग्रहण किया है, जो हिन्दी भाषियों के बीच सर्वदा प्रचलित हैं और जिनका सूर तथा तुलसी सदृश महाकवियों ने भी परम्परानिर्वाह के लिए अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है।

**देशज या देश्य शब्द :**
जिन शब्दों की व्युत्पत्ति ज्ञात न हो और जो देश में ही किसी न किसी रूप में विकसित हुए हों अर्थात् जिसके मूल में कोई विदेशी शब्द न हो उन्हें देशी, देश्य या देशज शब्द कहा जाता है। पं. हरगोविन्द त्रिविक्रम सेठ का मत है– "वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा, पंजाब और मध्यदेश में बाहर अन्य प्रदेशों में उस समय आये लोगो की जो प्रादेशित प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थी, उन्ही से ये शब्द गृहीत हुए है।"[2] इससे स्पष्ट होता है कि ये किसी न किसी देशी शब्द के आधार पर प्रचलित हुए हैं, जिनकी व्युत्पत्ति हम नहीं जानते। वस्तुतः संस्कृत शब्दावली और उससे विकसित रूप ही आज तक व्याकरणिक दृष्टि से विश्लेषित किये जाते है, प्रादेशिक भाषाओं की पुरातन शब्दावली का उतना विश्लेषण नहीं हो सका है।

'द्विजदेव' ने अपनी कविता में कुछ ऐसे प्रान्तीय, देशीय शब्दों के प्रयोग भी किये हैं जो केवल प्राचीन कविता में ही प्रयुक्त होते है, जैसे– भभरि, चौचन्द, झलान, झकौर, हाली, बरू, मजज, लखेई, नलिकात, चबाइन, जूहन, चहूँधाँ, छहरि तथा उमाह इत्यादि। इनके अतिरिक्त जलाहल, पिरात, बराइ, टटकी, कौंछ, भीनि, पौढ़ि, पैंढ़े पतौवा, जवैया, भरोखा, अलबेली, अंधाधुंधि, ऊकबीक, जूझन, पुरैनि तथा करिहा प्रभृति ग्राम्य शब्द भी इनकी रचनाओं में पाए जाते है। यह अवश्य है कि इन शब्दों का प्रचलन समाज में बराबर पाया जाता है।

**विदेशी :**
जब मुसलमानों का सिक्का भारत पर जम गया तो उसके परिणामस्वरूप विविध प्रतिक्रियाओं में से एक यह भी थी कि सभी मध्यकालीन आर्यभाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँ तक अरबी, फारसी से अछूती न रह सकीं। दरबार से सम्बद्ध लोगों का तो कहना ही क्या? जनता ने भी न जाने कितने अरबी, फारसी के शब्द अपना लिए। वे सब जनसाधारण की भाषा में घुलमिल गए। उनका अरबीपन और फारसी मिट गया। हिन्दी भाषा के अंगस्वरूप ऐसे विदेशी शबदों की अवहेलना करके कोई भी महाकवि अपना प्रकृत हिन्दी काव्य नहीं प्रस्तुत कर सकता था। यही कारण है कि सूर, तुलसी, घनानन्द तथा बिहारी आदि सभी की रचनाओं में ऐसे विदेशी शब्दों का यथेष्ट प्रयोग किया है। उनकी रचनाओं में पाए जाने वाले अरबी के कुछ शब्द य हैं– जाहिर (ज़ाहिर), मुदाम (मुदामा), नेफा (नफअ), मसाल (मिशअल), अरजनि (अर्जी), साहिवी (साहिबी), हाल (हाल), खराव (खराब), दवा (दवा), सौदा (सौदा), माफ़ (मुआफ़), मौज (मौज), कसूर (कुसूर), ख्याल (ख़याल), अकस (अक्स), जरूर (जुरूर), फते (फतेह), लायक (लाइक), हवालै (हवालह) तथा सबीह (शबीह) इत्यादि।
जिस रूप में ये शब्द प्रयुक्त हैं, उसे देखने से स्पष्ट है कि कवि ने इन प्रयुक्त शब्दों को हिन्दी–ध्वनि के अनुकूल बनाकर रखा है। यह भी कह सकते हैं उसने इनके उन स्वरूपों को ग्रहण किया है जो हिन्दी भाषा में प्रचलित हों।

अरबी के समान ही फारसी के ऐसे शब्दों को जो हिन्दी में प्रायः प्रचलित हैं उन्हें भी द्विजदेव ने हिन्दी ध्वनि के अनुरूप अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त फ़ारसी के ऐसे शब्दों को देखिए– बाग (बाग़), कागद (कागज़), आब (आब), दाग (दाग़), सोर (शोर), दगा (दग़ा), परिंद (परिंदह), चलाक (चालाक), कारीगर (कारीगर), पनाह (पनाह), महताब (माहताब), बदी (बदी), अपसोस (अफ्यसोस), जोर (जोर), हजार (हज़ार), खाम (ख़ाम), गौहर (गौहर) तथा सौदा (सौदा) इत्यादि।

उपर्युक्त 'सौदा' शब्द अरबी तथा फ़ारसी दोनों भाषाओं में प्रयुक्त होता है। अरबी भाषा में इस शब्द का प्रयोग केवल शरीर विज्ञान में ही होता है, किन्तु फ़ारसी में इसका प्रयोग साहित्य में किया जाता है। फ़ारसी–साहित्य में इसमें दो अर्थ लगाए जाते हैं– 1. प्रेमोन्मत्तता तथा 2. व्यापारिक विनिमय। 'द्विजदेव' ने इस शब्द का इस पकार प्रयोग किया है कि उसके उक्त दोनों (फ़ारसी के) ही अर्थ आ जाते हैं। यथा–

**''बृंदावन–कुजन मैं बंसीबट–छाँह तरैं,**
**कौतुक अनौंखौ एक आज लखि आई मैं।**
**लाग्यौ हुतौ हाट एक मदन–धनी कौ जहाँ,**
**गोपिन कौ बृंद रह्यौ झूँमि चहूँधाई मैं।।**
**'द्विजदेव' सौदा की न रीति कछु भाँखी जाइ,**
**है रही जु नैन–उनमत्त की दिखाई मैं।**
**लै–लै कछु रूप मनमोहन सौं वीर वे,**
**अहीरिनैं गँवारी देति हीरन–बटाई मैं।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–206**

यहाँ 'सौदा' का उन्मत्त (प्रेमोन्मत्तता) तथा 'बँटाई' (व्यापारिक विनिमय) दोनों से ही काव्यगत सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है।

'हरौलन' (तुर्की–'हिराउल' या हेराउल) सदृश शब्दों को देखते हुए कहना पड़ता है कि तुर्की के हिन्दी में प्रचलित शब्दों को भी निरादृत नहीं किया गया है। हाँ, यहाँ भी उनका शुद्धीकरण नहीं भुलाया है। फ़ारसी प्रत्यय 'ना' और अरबी संज्ञा 'हक़' के योग से बना 'ना–हक़' क्रिया–विशेषण हिन्दी में भी पर्याप्त प्रचलित है। यह शब्द 'द्विजदेव' की अलभ्य–सा प्रतीत हुआ ह। यही कारण है कि उन्होंने 'नाहँक' का प्रयोग अपनी रचनाओं में कई बार किया है।

कही–कहीं पर उनकी यह भी प्रवृत्ति दीख पड़ती है कि यह एक ही शब्द के अनेक रूपों का प्रयोग एक ही छन्द में करते हैं, जैसे प्रस्तुत छन्द में हैं–

**''आधी लौ उसास मुख आँसुन सौं धोवैं कहूँ,**
**जोवैं कहूँ आधे–आधे–पलन–पसारिकै।**
**नींद, भूँख, प्यास ताहि आधीहू रही न तन,**
**आधेहू न आखर सकत अनुसारिकैं।।**
**'द्विजदेव' की सौं ऐसी आधि अधिकानी जासौं,**
**नैंकऊ न तन–मन राखति सँभारिकैं।**
**जा दिन तैं जोरि मन–मोहन लला पैं डीठि,**
**राधे! आधे–नैननि तैं आई तू निहारिकैं।।''**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–78**

कवि की इस प्रवृत्ति पर परम्परा का प्रभाव है। पद्माकर ने भी ऐसा ही प्रयोग किया है। यथा–

**''अधखुली कंचुकी उरोज अध आधे खुले,**
**अधखुले वेष नखरेखन के झलकै।**
**कहैं पद्माकर नवीन अधनीबी खुली,**
**अधखुले छहरि छराके छोर छलकैं।।**
**भोर जगि प्यारी अध अरध इतै कि ओर,**
**झाँषी झिखि झिरकि उघारि अधपलकैं।**
**आँखे अधखुली अधखुली खिरकी हैं खुली,**
**अधखुली आनन पै अधखुली अलकैं।।''**
**–जगद् विनोद, छन्द संख्या–49**

'आधी' शब्द का उपर्युक्त छन्द में जो प्रयोग हुआ है, इससे कवि के शब्द–भण्डार की पूर्णता तथा शब्दचयन का औचित्य स्पष्ट है। एक ही शब्द के अनेक रूपों का प्रयोग कवि ने अधिकारपूर्वक यथा स्थान किया है। यथा–नीचन, नीचे, निरदइ,

निरदै, हियौ, हिय, हियरा, हास, हाँसी, हँसी, सीत, सीति, स्वाँसा, स्वाँस, साँस, आज, अजौ, आजूई, चहूँ, चहुँ, चहुँधा तथा चहुँधाई आदि।

यों तो ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक है, पर कुछ सीमित शब्द देकर ही 'शब्द–योजना' को समाप्त कर अगले अंग की ओर बढ़ते हैं।

**(ख) लाक्षणिकता और व्यंजनासामर्थ्य**

लक्षण और व्यंजना का प्रयोग काव्य की उत्तमता का चिन्ह माना जाता है। इसे प्रयोग से ही काव्य रसिक जनों और विद्वानों में पसन्द किया जाता है। यहाँ इनपर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है–

**लाक्षणिकताः**

'लाक्षणिकता' उसे कहते हैं जहाँ किसी रूप में लक्षणा शब्दशक्ति विद्यमान रहती है। इसलिए पहले लक्षणा के स्वरूप को ही समझ लेना आवश्यक ह–

**लक्षणाः**

शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं– अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार है– 'मुख्यार्थ का बाध होने पर भी रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है, उसे लक्षणा शक्ति कहा जाता है।

इस प्रकार लक्षण में तीन बातें आवश्यक होती हैं–

(क) मुख्यार्थ का बाध,

(ख) लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्धित होना तथा

(ग) मूल में रूढ़ि या प्रयोजन का होना।'

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षणा के साथ मुख्य भेद किये गये हैं–

(क) रूढ़िमूला लक्षणा,

(ख) प्रयोजनवती लक्षणा। प्रयोजनवती के छः भेद माने गये हैं–

1. सारोपा गाणी प्रयोजनवती लक्षणा,
2. साध्यवसाना गाणी प्रयोजनवती लक्षणा,
3. सारोपा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा,
4. साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षणा,
5. उपादान लक्षणा,
6. लक्षणलक्षणा।

प्रयोजन तो इन सभी मूल में रहता ह, लेकिन सादृश्य सम्बन्ध होने से लक्ष्यार्थ ग्रहण होने पर गौणी
लक्षण होती है और सादृश्य के अतिरिक्त आधार पर लक्ष्यार्थ ग्रहण करने पर शुद्धा। सारोपा में आरोप और आरोप्यमाण दोनों का शब्दशः कथन किया जाता है जबकि साध्यवसाना में केवल आरोप्यमाण का ही कथन किया जाता है। उपादान लक्षणा में लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी बना रहता है, इसलिए इसे संस्कृत में अजहत्स्वार्था (अ+जहत्+स्व+अर्था, जिसने अपना अर्थ नहीं छोड़ा है) भी कहा जाता है। लक्षण लक्षणा में मुख्यार्थ का पूरी तरह परित्याग कर दिया जाता है, इसलिए उसे जहत् स्वार्था (जहत्=छोड़ दिया ह, स्व=अपना, अर्था=अर्थ जिसने) भी कहा जाता है।[3] इनके लक्षण और उदाहरण बहुंत विस्तृत और उलझे हुए हैं। इसलिए इन्हें संक्षेप में कह दिया गया है।

जहाँ लक्षणा का अस्तित्व रहता है, वहाँ लाक्षणिकता मानी जाती है। लक्षणों के भेदों में गहराई और जटिलता बहुत अधिक है। 'द्विजदेव' ने लक्षण शक्ति के प्रयोग से अपने काव्य की भाषा में शक्ति एवं स्फूर्ति का समावेश किया है। उनके काव्य से कुछ ऐसे ही उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

**आज सुख सोवत सलौनी सजी सेज पैं,**
**घरीकि निसि बाकी रही पाछिल पहर की।**
**भड़कन लाग्यौ पौंन दच्छिन अलच्छ की।।**
**'द्विजदेव' की सौं मोहिं नैंकऊ न जानि परी,**

**पलटि गई धौं कबै सुखमा नगर की।**
**औरें मैन गति, जति रैन की सु औरैं भई,**
**औरैं भई रति, मति औरैं भई नर की।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द सं.–1**

उपर्युक्त छन्द के 'भड़कन लाग्यौ' पद में प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणा तथा 'सुखमा नगर की' पद में प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा है। प्रथम प्रयोग में 'भड़कना' क्रिया पशुओं आदि के विषय में प्रयुक्त होती है, परन्तु सादृश्य–सम्बन्ध से यहाँ पवन के साथ सवेग चलने के अर्थ में पयोग की गई है तथा इसका प्रयोजन धीरे–धीरे चलकर लक्षित होना है। द्वितीय प्रयोग में 'नगर' शब्द का अर्थ नगरस्थ समस्त वस्तुएँ हैं।

अब एक उदाहरण सारोपा गौणी प्रयोजनवती का देखिये–

**आँनन–चंद की दीपति देखि,**
**दुहूँन कै नैन–चकोर रहे छकि।**

यहाँ मुख पर चन्द्रमा का तथा नेत्रों पर चकोर का आरोप किया गया है। विषय एवं विषयी दोनों का शब्दशः कथन होने के करण सारोपा लक्षणा है। ये आरोप्यमाण सादृश्य सम्बन्ध में ग्रहण किये गये हैं। अतः सारोपा गौणी लक्षणा हुई। यहाँ नायिका (राधा) की अंग–कान्ति को व्यक्त करना तथा नायक (श्रीकृष्ण) का नायिका के सौन्दर्य पर अनुराग प्रकट करना, कवि का प्रयोजन है, अतः सारोपा गौणी प्रयोजनवती लक्षणा हुई।

**व्यंजनासामर्थ्यः**

व्यंजन की सामर्थ्य ही कवि की श्रेष्ठता का प्रमाण माना जाता है। इसके लिए पहले व्यंजना को समझना आवश्यक है–

**व्यंजनाः**

अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना–अपना अर्थ अभिव्यक्त कर विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा हृदयावर्जक व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना कहा जाता है।

''कहने का तात्पर्य यह है कि अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ ग्रहण करने पर ज्ञान की प्रतीति हो जाती है, लेकिन कई बार कवि का अभिप्राय इतना गूढ़ होता है कि उसे अभिधा और लक्षणा के बल पर ग्रहण नहीं किया जाता। अभिधा मुख्यार्थ की ही वाचिका है, लक्षणा भी तीतर की उड़ान के समान है जो रम्य वसुन्धरा को सूँघता हुआ ही उड़ता है। अतः ऐसी कल्पना प्रधान शक्ति की आवश्यकता स्वाभाविक हो जाती है जो कल्पना प्रधान रमणीय अर्थ को अभिव्यक्त कर सकें। यह शब्द शक्ति व्यंजना ही है।'

व्यंजना के भेद और आधार अत्यन्त विशाल हैं। अतः यहाँ उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है और 'द्विजदेव' के काव्य के सीधे उदाहरण दिये जा रहे हैं–

**दोऊ चंद–चकोर से ह्वै हैं अली! फिरिहैं दोऊ आनँद मैं भटके।**
**दुनहूँन की बाढ़िहै प्रीति–लता, लहि प्रेम–पीयूष दुहूँ घट के।।**
**'द्विजदेव' जू मोहिं प्रतीति परी, मिटिहैं सिगरे मन के खटके।**
**मुख हीं जब चाँहैं मिलाप अली! तो कहा भयो लोयन के फटके।।**
**–शंगारलतिकासौरभ, छन्द सं.–72**

अंतर अनुराग भरे हुए हृदय और बाहर लाज लपेटे नयनों को देख एक सखी शंका करती है कि क्या प्यारी–प्यारे का मिलन असम्भव है? दूसरी अन्तरंगिणी सखी को इस प्रकार समझाती है कि हे सखी! ये दोनों चन्द्र–चकोर से रहेंगे और दोनों आनन्द में भटके हुए फिरेंगे तथा दोनों के हृदयों की प्रीति–लता प्रेम–पीयूषधारासे सिंचित हो अवश्य बढ़ेगी। मुझकों प्रतीति है कि तेरे मन की सारी चिन्ता अवश्य जाती रहेगी, क्योंकि हृदय का द्वार मुख है, जब मुख ही आपस में मिलाप चाहे–मिलना चाहे तो लोचनों के लज्जावश फटके रहने से क्या होता है। अभिधामूलक व्यंग्य के बल से दूसरा अर्थ यह

भी भासित होता है कि दोनों तरफ के मुख अर्थात् मुखिया (प्रधान) जब आपस में मिलाप चाहें तो लोयन यानी अनुयायी लोगों के फटके (पृथक्) रहने से क्या होता है। क्योंकि प्रधान के निर्णय को मानना ही अनुयायियों के हित में है।

### (ग) पदप्रयोगपाटव

'द्विजदेव' सरस और सहृदय कवि हैं और उपयुक्त शब्द की उन्हें अच्छी पहचान है। यहाँ उनके पद प्रयोग की पटुता (निपुणता) दिखाने क लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

**''लहि जीवन–मूरि कौ लाहु अती! वै भली जुग–चारि लौं जीवौ करैं।**
**'द्विजदेव' जू त्यौं हरखई हिऐं, बर–बैन–सुधा–मधु पीवौं करैं।।''**

यहाँ जीवनमूरि के दो अर्थ हैं– प्राणप्यारे कृष्ण तथा जीवन की औषध संजीवनी। कृष्ण के लिए नायिका कहती है कि जिस प्रकार संजीवनी औषध का पान किया हुआ व्यक्ति ही चारों युग जी सकता है अर्थात् अमर रह सकता है, उसी प्रकार प्राणप्यारे कृष्ण के स्नेह में रहकर उनके वचनों का सुधापान कर कोई भी स्त्री चारों युगों तक आनन्द उठा सकती है। (यहाँ सुधा–पान का अर्थ भी अमर होना है)। यहाँ जीवनमूरि शब्द में कवि की शब्द विषयक निपुणता दिखाई देती है।

**आवति चली है यह बिषम–ब्यारि देखि!**
**दबे–दबे पाँइन किंवारनि लरजि दै।**
**क्वैलिया कलंकिनि कौं दे दी समुझाइ**
**मधु–माँती मधु–पालिनि कुचालिनी तरजि दै।।**

यहाँ पर 'मधु' शब्द के तीन अर्थ लिए हैं– चैत्रमास, पुष्परस और मद्य।

कोयल के अर्थ में–चैत्रमासा से उन्मत्त हुए कोकिल प्रायः इन महीनों में ही दिन–रात बोला करती है। अथवा वह मधु या (मकरंद) मदिरा का पान किए हुए उन्मत्त हो रही है। और दूसरे अर्थ में ऋतुराज से पोषित अर्थात् महाराजाओं के कृपापात्र होकर प्रायः अधम लोग फूलकर उन्मत्त हो जाते हैं।

**खोई कैं सुबंस बसी ऐसैंहीं कछूक दिन**
**मारी–फिरी ऐसैहीं कछूक दिन नाँगी री।**
**देद करवाइ निज–छाती मैं छः–सात गई,**
**कारीगर–हाथन अनेक–बिधि दागी री।।**

यहाँ पर सुबंस (बड़े अच्छे बाँसों) से उत्पन्न बाँसुरी की समता कुलटा से की है। जैसे वे (कुलटा स्त्री) उत्तम वंश (कुल) को मिटा देती है, वेसे ही यह भी उत्तम वंश (बाँस के वृक्ष का) अपने हेतु समूलोच्छेद कराती है। जैसे वे नंगी (निर्लज्ज, मर्यादारहित) होती हैं, वैसे ही यह भी बिना रंग–रोगन के नंगी रहती है। यहाँ बंशी और कुलटा स्त्री के लिए प्रयोग में लाये गये शब्द उत्तम हैं।

### (घ) लोकोक्ति और मुहावरे

लोकोक्ति, जिसे कहावत भी कहा जाता है वे लोग–प्रचलित वाक्य हैं, जो लोकभाषा में रूढ़ हो चले हैं। और जिनसे सामाजिक व्यक्ति अपनी हार्दिक भावना को अधिक सजीवता और सप्राणता से व्यक्त कर पाते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लोकोक्ति के विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है– 'विभिन्न प्रकार के अनुभवों, पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं कथाओं प्राकृतिक नियमों एवं लोकविश्वासों आदि पर आधारित चुटीली सारगर्भित, सजीव, संक्षिप्त, लोकप्रचलित ऐसी उक्तियों को लोकोक्ति कहते हैं, जिनका प्रयोग बात की पुष्टि का विरोध, सीख तथा भविष्य कथन आदि के लिए किया जाता है।'

'द्विजदेव' के काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग प्रायः न के बराबर ही हुआ है। वस्तुतः लोकोक्तियाँ स्वतन्त्र वाक्य होते हैं जो गद्य में स्थान पा जाते हैं, लेकिन काव्य की छन्दोबद्धता में उन्हें स्थान नहीं मिल पाता। 'द्विजदेव' का एक छन्द अवश्य आता है जिसे इस सन्दर्भ में रखा जा सकता है। यह छन्द इस प्रकार है–

**मधुरी मुसुक्यानी मनोहर मैं, मति मेरी जु आनि ठगी सी ठगी।**
**गरूए–गहबीले गुलाब के पात से, गातन दीठि लगी सो लगी।।**
**सजनी! ये नेह–मई बतियाँन तैं, काम की ज्योति जगी सो जगी।**

**अब कोऊ कितोऊ कहै किन री! जु हौं श्याम के रंग रँगी सो रँगी।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–76**

इसमें नीचे के पंक्ति लोकोक्ति जैसी है। लोक में कहावत है–'सूरदास की कारी काँवरी चढ़ै न दूजौ रंग।' काले कम्बल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, इसी प्रकार नायिका यहाँ अपनी सखी से कहती है कि अब चाहे कोई कुछ भी कहो यह मन तो उस श्याम (कृष्ण व काला) के रँग में रँगा सो रँगा, अब त्रिकाल में भी मिट नहीं सकता, क्योंकि सम्भवतः काले रंग पर दूसरा रंग कभी नहीं चढ़ सकता।

**मुहावरेः**

महाराज 'द्विजदेव' ने अपने स्थल पर मुहावरों का अच्छा प्रयोग किया है, जिससे भाषा की व्यंजना–शक्ति बढ़ी है। मुहावरों पर विचार करने पर सर्वप्रथम हमारी पुष्टि उनके द्वारा प्रयुक्त 'बीस बिसै' (53, 88 शृंगारलतिका) बीस बिस्वा मुहावरे पर पड़ती है। ब्रजभाषा का यह मुावरा कवि को सर्वाधिक प्रिय था, इसलिए उन्होंने इसका प्रयोग अनेक बार किया है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे इनके मुहावरों का सुमेरू यही था। उनके द्वारा प्रयुक्त अन्य मुहावरे यहाँ प्रस्तुत हैं–

1. **आइ लजाइ चलेई गए गुरू, आपनौं सौ लिऐं आपनौं आनन।**
**–शृंगारलकिासौरभ, छन्द संख्या–31**

यहाँ 'अपना–सा मुँह लेकर रह जाना' मुहावरे का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है– असफल होकर लज्जित होना।

2. **दौरि दुरिबे के काज दीप न बुझायौ सो तौं,**
**गाहक भयौ री आली। आपने ही गर कौ।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–82**

यहाँ 'अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ी मारना' मुहावरे का प्रयोग किया गया हैं जिसका अर्थ है– अपनी हानि स्वयं करना।

3. **देहरी–नाँखि चले वे लला,**
**कहौं कौनैं प्रकार सौं देह री राखैं।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–83**

यहाँ पर 'दहलीज पार करना' मुहावरे का प्रयोग है।

4. **ह्वै कैं सुधा–धाम काम–विष कौं बगारै मूढ़।**
**ह्वै कैं 'द्विजराज' काज करत कसाई कौ।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–84**

यहाँ पंक्तियों में 'पत्थर दिल होना' मुहावरे का प्रयोग है।

5. **इहिं बानिक सौं, वृषभाँनु–सुता,**
**जब बाट गहैं बन ओरन की।**
**'द्विजदेव' जू काहि न चाँह बढ़ै,**
**मन–वारि घने–तृन तोरन की।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–69**

इन पंक्तियों में 'बाट गहना' अर्थात् इन्तजार करना और 'तृन तोड़ना' मुहावरों का प्रयोग है।

**(ड.) प्रवाह और माधुर्य**

'द्विजदेव' का काव्य गेय है। उसका प्राण संगीत है। कवि को इसके लिए अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। 'द्विजदेव' ने मुख्य रूप से सवैया घनाक्षरी, मौक्तिकदाम, नाराच, भुजंगप्रयात, छप्पय, दोहा, सोरठा, और रोला का प्रयोग किया है। इनके सभी छन्दों में भाशा का अच्छा प्रवाह देखा जा सकता है। प्रवाह की दृष्टि से उनके इस छन्द को देखिए–

**औरैं भाँति कोकिल, चकोर ठौर–ठौर बोले,**
**औरैं भाँति सबद पपीहन के बै गए।**
**औरैं भाँति पल्लव लिए हैं वृंद–बृंद तरू,**
**औरैं छबि–पुंज कुंज–कुंजन उनै गए।।**

**औरैं भाँति सीतल, सुगंध, मुंद डोलै पौंन,**
**'द्विजदेव' देखत न ऐसैं पल द्वै गए।**
**औरैं रति, औरैं रंग औरैं साज, औरैं संग,**
**औरैं बन, औरैं छन, औरैं मन, ह्वै गए।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–30**

छन्द कवित्त है और कवित्त का प्रवाह पूरी तरह से अबाधित है। छन्द की शब्दयोजना इस प्रकार की गई है कि विरामचिह्नों का ठीक प्रयोग करने से अर्थ निकलने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

संयोग शृंगार–

**कबहुँक फागुन माँहिं, दोऊ फगुवा मिलि खेलहिं।**
**लखि मदमाँते स्याम, कबहुँ सखियाँ हँसि हेलहिं।।**
**ह्वै नबोढ़ कहुँ मुग्ध–तिया, मोहन–मन–रोहैं।**
**हरि–मुख सुनि कहुँ बैनु, सबै–बिबि राधा मोहैं।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–41**

वियोग शृंगार–

**कूकि–कूकि केकी हिय–हूकनि बढ़ावै क्यों न,**
**विषधर–भोजन के अति उतपाती री।**
**साजि दल बादर डरावने डरावैं क्यों न,**
**ए तो घनश्याम जू कें परम सँघाती री।।**
**अजुगति एक तोहिं बूझने चँहति आली,**
**'द्विजदेव' की सौं कटु बुझति संकाती रीं।।**
**अबला अबल जानि सूनी परी सेज मोहिं,**
**कैसैं छन–जौन्ह की न दरकति छाती री।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–161**

संयोग शृंगार हो या वियोग शृंगार, कवित्त हो या सवैया, सभी छन्दों में 'द्विजदेव' ने दो या तीन शब्दों का ही प्रयोग किया है। उन्होंने सरल, सरस, माधुर्ययुक्त भाषा का प्रयोग किया है, जिसको पढ़ते समय पाठक को कोई कठिनाई नहीं होती। अर्थ भी स्वतः निकल आता है। 'द्विजदेव' ने छोटे–छोटे समासों का प्रयोगकरते हुए भी भाषासौष्ठव को रक्षा की है। इस प्रकार के समास धनागम (98), बिरहानल (100), कुमुदामल (255) तथा अधराधर (114) आदि शब्दों में प्राप्त होते हैं। कहीं–कहीं पर सामासिक चिह्नों का प्रयोग भी किया गया है, यथा–

**''बूझैं हूँ न सूझत सुघाट–बाट–जल–थल,**
**बिनसी सकल मरिजादा सब ठाम की।**
**'द्विजदेव' देहरी के बाहर धरत पग,**
**फेरि सुधि करत न धाम की, न गाम की।।**
**बुड़ति अथाहैं, कुल–धरम निवाहैं कौंन,**
**बावरी! बिलोकि यह उकति मुदान की।**
**पासस–अँध्यारी हुती ऐसिऐ डायरी तापैं,**
**आठौं जाम रस–बरसनि घनश्याम की।।''**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–156**

'द्विजदेव' की भाषा प्रायः सर्वत्र माधुर्य के अनुकूल है। शब्द–योजना में 'द्विजदेव' ने विशेष रूप से शास्त्रीय परम्परा का ध्यान रखा है। किन्तु इस प्रकार अवहित होकर काव्य–रचना करने में एक बहुत बड़ी कमी आ जाने का भय रहता है कि कहीं शब्दो के फेर में पड़कर कवि अर्थ को न बिगाड़ ले। कवि की सबसे बड़ी कुशलता इसी बात में है कि शब्द–योजना के प्रति जागरूक रहते हुए भी अर्थ तथा भाव की अभिव्यजंना में कमी न आने पावे और शब्द सौन्दर्य इतना भी न बढ़ जाये कि पाठक का ध्यान अर्थ–सौन्दर्य की ओर से हटकर शब्द–सौन्दर्य पर ही केन्द्रित होकर रह जाये।

'द्विजदेव' के काव्य में इस प्रकार की कमी प्रायः कहीं नहीं आने पाई है। 'द्विजदेव' की काव्य–भाषा का एक सवैया और देखिए–

**आवती–जाती नितै बन देखन, आजई चंप परे कत पीले।**
**त्यौं इन कुंजन कूंजत कोकिल, क्यों कल कूजन मैं गरबीले।।**
**भेद कहौ हम सौं तुम याकौ, अहो मनभावन छैल–छबीले।**
**घाँघरी–ढीली बिलोकिं कहा, इन सौतिन के मन ह्वै गए ढीले।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द–184**

**2. छन्दों का चरणान्त तुक :**

'द्विजदेव' के समस्त छन्द तुक प्रधान हैं। छन्दों का तुकान्त इन्हें पढ़ने में जो गति प्रदान करता है, उससे छन्द या माधुर्य और प्रवाह और अधिक बढ़ जाता है। ऐसे ही कुछ उदाहरण देखिए–

**'द्विजदेव' जू नैंक न मानी तबै, बिनती करी बार हजारन की।**
**इक माखन चोर के जोर लई, छबि–छीनि सिखी–पखवारन की।।**
**लहि ऊँची उसास बिसूरै कहा! लखि सैन घनी घन–भारन की।**
**द्विन द्वैक मैं पैहै सकेलि सबै, फल बेलि बई जो अँगारन की।।**
**–शृंगारलतिकासौरभ, छन्द संख्या–73**

यहाँ पंक्तियों के अन्त में आये शब्द, हजारन की, पखवारन की, घन–भारन की, अँगारन की छन्द को एक गति देते हैं जो स्रोता और वक्ता दोनों को भाती है। डॉ० पद्मा अग्रवाल के शब्दों में– 'द्विजदेव' की भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी अभिनयात्मकता है।'

संक्षेप में महाराजा मानसिंह 'द्विजदेव' के काव्य या भाषाविषयक अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि 'द्विजदेव' काव्यभाषा के प्रति बहुत अधित सचेत रहे है। उन्होंने भाषा को मधुर और ललित बनाने का पूरा ध्यान रखा है। केवल पदों की संरचना, असंयुक्त वर्णों का प्रयोग, अनुप्रास अलंकार व यमक का सहज प्रयोग, सहज मुहावरों का प्रयोग आदि उनकी काव्य भाषा की प्रमुख विशेषताएं है। उनकी भाषा में दोषों का कोई रूप नहीं मिलता। उन्होंने शब्दों का रूप नहीं बिगाड़ा है। संस्कृत शब्द हो या अरबी–फारसी का, उन्होंने उन्हें ब्रजभाषा के साँचे में ढालने और मधुर बनाने का पूरा प्रयास किया है।

## सन्दर्भ सूचीः


1. डॉ. रामानन्द शर्मा (सम्पादक) : कालिदास त्रिवेदी ग्रन्थावली (भूमिका) पृष्ठ–46
2. पंडित हरगोविन्द त्रिविक्रम सेठ : प्राकृतशब्द महा० वि (निवेदन) पृष्ठ – 21
3. डॉ. रामानन्द शर्मा : भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ – 123–28
4. डॉ. रामानन्द शर्मा : भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ – 129–30
5. ''लिटरेरी लैंग्वेज इन ड्रामेटिक ऐड इट डज नॉट स्टैण्ड सो मच फार दि लिटरल मीनिंग ऐज फार दि टाइड ऑफ एमोशंस ऐंड हैंकरिंग्स ऑफ लाइफ।''– डॉ. पद्मा अग्रवाल : सिंबोलिज्म ए साइकोलॉजिकल स्टडी, पृष्ठ 283